हिंदी काव्य में प्रगतिवाद

लेखक

विजयशंकर मल्ल, एम० ए०

प्रकाशक

सरस्वती-मंदिर

बनारस

प्रथम बार
अक्तूबर १९४०
मूल्य =॥)

वक्तव्य

प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य आधुनिक हिन्दी-काव्य की नवीनतम प्रवृत्ति 'प्रगतिवाद' का सुबोध विवेचन है। मैंने यह प्रयत्न किया है कि इसमें प्रगतिवाद की साहित्यगत आवश्यकता का उल्लेख, उसके सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष का निरूपण तथा उससे सम्बद्ध प्रवृत्तियों का निर्देश स्पष्ट रूप में हो जाय।

पुस्तक सन १९४५ के अप्रैल में तैयार हो गई थी। फिर विचार हुआ कि इसका और विस्तार कर दिया जाय, पर कई कारणों से यह कार्य रुकता गया और विलम्ब होने लगा इसलिए जहाँ तहाँ बहुत थोड़े परिवर्तन के साथ, प्राय उसी रूप में, 'हिंदी-काव्य में प्रगतिवाद' प्रकाशित हो रहा है।

यह कहना कि श्रद्धेय गुरुवर प० विश्वनाथप्रसादजी मिश्र की कृपा से ही यह पुस्तक इस रूप में उपस्थित की जा रही है, तथ्य का कथन मात्र है। श्रद्धेय गुरुवर-द्वय प० केशवप्रसादजी मिश्र और प० नन्ददुलारेजी वाजपेयी ने एक-एक बार इसकी पाण्डुलिपि देखकर मुझे प्रोत्साहित किया है। यद्यपि शब्दों द्वारा गुरुजनों के स्नेह और अनुग्रह का उल्लेख करना कठिन है तथापि प्रचलित रीति के अनुसार उपर्युक्त महानुभावों के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। इस पुस्तक में जिन लेखकों की रचनाओं से किसी प्रकार के उद्धरण दिए गए हैं उन सब का मैं ऋणी हूँ। अन

में म उन सभी मित्रों का आभार स्वीकार करता हूँ जिनकी प्रेरणा से इस पुस्तक को प्रकाशित कराने में शीघ्रता करनी पड़ी। प्रियवर श्री नामवर सिंह ने भी पुस्तक का नामानुक्रम तैयार करके मेरी सहायता की है।

यदि यह पुस्तक जिज्ञासुओं को प्रगतिवादी काव्य की गति विधि समझने में कुछ भी सहायक हुई तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।

हिन्दू विश्वविद्यालय
काशी
अगस्त '५१

विनयशंकर मल्ल

विषय-सूची



———

पूर्वपीठिका

काव्य लोक की वस्तु है और उसका कर्त्ता कवि संवेदनशील सामाजिक प्राणी। लोक में व्याप्त संचरित होनेवाली भावधारा एवं विचार तरंगों के आघात से उसकी हृत्तन्त्री जब कम्पित हो उठती है तब काव्य की झंकार उत्पन्न होती है, जिसकी रमणीयता में मग्न होकर सहृदय पाठक विश्वात्मा की मंगल-साधना में योग देता है। कहने का तात्पर्य यह कि काव्य में सामाजिक जीवन के दृश्यों एवं मनोवृत्तियों का प्रतिबिंब होता है और उस कविता का अध्ययन करनेवाले पाठक के हृदय पर निरूपित चित्रों एवं व्यंजित भावों का प्रतिबिंब पड़ता है। अर्थात काव्य प्रातिबिंबिक सत्ता है।

जब काव्य और लोकजीवन का संबंध इतना घनिष्ठ है तब यह स्वाभाविक है कि किसी काल विशेष की काव्यधारा में उस युग की चिंता, आकांक्षा और मनोवृत्तियों की पूरी छाप हो। मानव-समाज

ती है। प्रवृत्ति और स्वरूप के विचार से उसे चार खंडों में
भाजित किया जा सकता है—भारतेंदु युग, द्विवेदी-युग, छायावाद
। और वर्तमान युग।

भारतेंदु युग

जिस समय से आधुनिक हिन्दी-कविता का प्रारंभ होता है वह
य संघर्ष, विचार परिवर्तन और विदेशी सत्ता के निरंतर बढ़ते हुए
षण और उत्पीड़न का युग है। यद्यपि प्राय सौ साल पहले ही
गरेज व्यापारियों ने अपने प्रतिद्वंद्वियों को परास्त कर अपने पैर
रत में जमा लिए थे तथापि सन् १८५७ के विद्रोह के पश्चात्
पवस्थित रूप से विदेशी सत्ता की स्थापना यहाँ हुई। सन् '५७ की
ाति ने भारतीयों के जीवन में उथल-पुथल मचा दी थी और
नता आश्चर्यचकित हो तत्कालीन परिवर्तनों को देख रही थी।
जनीतिक जीवन आमूल परिवर्तित हो गया। एक ओर धोंधूपंत
सरा सरकारी पेंशन बंद होने के कारण आँसू बहा रहे थे दूसरी
ओर लखनऊ के नवाब वाजिदअली शाह राज्य खो कर कलकत्ते में
ठे बैठे शायरी करके दिल को बहला रहे थे। कंपनी के राज्य
ा अंत हुआ और महारानी विक्टोरिया भारत की शासिका हुईं।
भारत का शासन सूत्र इंगलैंड की पार्लमेंट के हाथ में गया। राजक
ोषणा से लोगों को विदित हुआ कि हमारे धर्म पर अब कोई
ाघात न होगा। सरकारी नौकरियों का द्वार सबके लिए खुला है।
इन सब बातों से भारतीयों के हृदय में नवीन आशा का संचार
हुआ और बहुत से लोगों को शांति मिली। वर्षों की मारकाट और अशांति
के पश्चात् एक बार फिर यह शांति की स्थिति अत्यंत सुखद प्रतीत हुई।
उस समय हमारे कवियों ने भी राजभक्ति गाई। यद्यपि रेल
आदि की व्यवस्था का मूल उद्देश्य देश के भीतरी भागों में

रहती है। प्रवृत्ति और स्वरूप के विचार से उसे चार खंडों में विभाजित किया जा सकता है—भारतेंदु युग, द्विवेदी-युग, छायावाद युग और वर्तमान युग।

भारतेंदु युग

विदेशी माल की खपत और भारतीय माल के निर्यात की सुविधा बना रही थी पर भ्रम वश लोगों को यही प्रतीत हुआ कि सरकार हमारी सुख सुविधाओं की दृष्टि से ये नवीन व्यवस्थाएँ कर रही है, इस विचार से तत्कालीन कवियों ने अपनी रचनाओं के द्वारा जनता के रूप में और राज्य के प्रति कृतज्ञता प्रकाशन में यश गाये।

पर शीघ्र ही लोगों को विदित हो गया कि विदेशी सत्ता के देश का आर्थिक शोषण कर रही है। तब काव्य जगत में कर प्रशस्ति के साथ साथ देशभक्ति का स्वर भी ऊँचा और गूढ़ गया जिसके अंतर्गत देश की तत्कालीन दशा का विवरण परिचय जाने लगा। भारत की अतुल संपत्ति जलमार्ग से बहकर कहाँ जा रही है इसका आभास भारतेंदु की इन प्रसिद्ध पंक्तियों में मिलता है—

अंगरेज राज सुखसाज सजे सब भारी,
पै धन बिदेस चलि जात यहै अति ख्वारी।

इस काल के पहले इंगलैंड में औद्योगिक क्रांति हो चुकी थी। औद्योगिक उन्नति से वहाँ का पूँजी बहुत बढ़ गई थी अतएव उस पूँजी को लगाने के लिए नए बाजार की आवश्यकता हुई। भारत हाथ में था ही यहाँ विदेशी पूँजी अधिकाधिक मात्रा में लगाई गई। आर्थिक शोषण का चक्र विशेष गतिमान हुआ। सन् १८६८ से ७८ के बीच देश में कई अकाल भी पड़े। इस प्रकार आर्थिक अवस्था क्रमशः शोचनीय होती गई। कई स्थानों पर किसानों के विद्रोह भी हुए। नए नए करों के बोझ से जनता दबती जा रही थी। धीरे धीरे विदेशी शासन पर लोगों का विश्वास कम होने लगा। इधर सन् १८८५ ई० में कांग्रेस की स्थापना हुई जिसने देश में नवीन चेतना का प्रसार किया। इन सब आर्थिक और राजनीतिक कारणों से जनता के कष्ट नित्यप्रति बढ़ते गये।

गतिमान किया। इसी प्रवृत्ति द्वारा ये हिंदी काव्यगगन में राष्ट्रीयता का स्वर ऊँचा हुआ। निश्चय ही यह दिन परम आनंदमय था जब भारतेंदु ने हिंदी-काव्य मंदिर में ममतामयी परतंत्र, म्लानमना भारतमाता की मूर्ति अधिष्ठित कर अपनी श्रद्धा भक्ति और प्रेम के भाव पुष्प उसके पुनीत चरणों पर अर्पित किए।

देशभक्ति की भावना भी कई रूपों में व्यक्त हुई। जैसा कि कह आए हैं, इस काल के कवियों ने राजप्रशस्ति में भी कुछ रचनाएँ कीं। यह राजप्रशस्ति भी उस समय देशभक्ति का एक अंग समझी जाती थी। राजव्यवस्था देश की सुख समृद्धि का हेतु और राजा जनता के आनंद मंगल में तत्पर आदर्श व्यक्ति के रूप में माना गया था। इस काल की कई रचनाओं में रानी विक्टोरिया के वचनों का स्मरण दिलाकर शासकों के मन में न्याय प्रियता जागरित कर देश की आर्थिक दुर्दशा सुधारने की प्रार्थना की गई। पर इस प्रकार के याचनाएँ शुद्ध भ्रम प्रमाणित हुईं। अब कवियों ने अपनी रचनाओं में देश की आर्थिक और सामाजिक दुर्दशा से उत्पन्न क्षोभ की व्यंजना करनी आरंभ की। मँहगी और टैक्स के कारण त्रस्त हुए जन का वर्णन हुआ। विदेशी वस्तुओं के विरोध और स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार में निहित कल्याण और सच्ची प्रतिष्ठा का आभास दिया गया—'रहे देश का नाम स्वदेशी कपड़े पहिन।' देश की तत्कालीन दुर्दशा का वर्णन कर भगवान से भारत के उद्धार की प्रार्थना की गई। भारत के गौरवपूर्ण अतीत का स्मरण दिलाकर वर्तमान के लिए नवीन स्फूर्ति और प्रेरणा प्राप्त करने का प्रयत्न हुआ।

इधर भारतीयों में आत्मसम्मान की भावना धीरे धीरे बढ़ती जा रही थी। जब 'काले' सैनिकों ने 'गोरों' के साथ साथ विदेशों में जाकर विजय प्राप्त की तब इस काल के कवियों ने इस पर अनुभव

किया। मिस्र में उनके विजय प्राप्त करने पर कहा गया—'ऊँचे भये आर्य मौंछ के बार।'

ज्यों ज्यों विदेशी सत्ता की आर्थिक शोषण और निर्दयता की नीति स्पष्ट होती गई त्यों त्यों भारतेंदु-युग की रचनाओं में देशभक्ति का स्वर भी उग्र होता गया। ? पर की दया पर निर्भर रहना छोड़कर आत्म निर्भरता और आत्मत्याग की भावना का आभास देनेवाली कई रचनाएँ बालमुकुंद गुप्त आदि ने लिखी हैं। कांग्रेस के स्वदेशी आंदोलन के पहले ही देश की सच्ची स्थिति परखकर स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार और आत्मनिर्भरता द्वारा देश की अधोगति के उपचार का निर्देशन गुप्तजी की इन पंक्तियों में वर्तमान है, यह ध्यान देने की बात है—

"अपना बोया आप ही खावें,
अपना कपड़ा आप बनावें।
माल विदेशी दूर भगावें,
अपना चरखा आप चलावें।
बढ़े सदा अपना व्यापार
चारों दिस हो मौज बहार।"

आर्थिक स्वतंत्रता की भावना की दृष्टि से भी इस प्रकार की रचनाएँ ध्यान देने योग्य हैं। किसानों की दीन दशा का आभास भारतेंदु-काल की अनेक रचनाओं में मिलता है। कहीं कहीं तो उनके कष्टों का विशद वर्णन भी दिखाई देता है।०

० उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"जिनके कारण सब सुख पावें, जिनका बोया सब जन खावें,
हाय हाय उनके बालक नित, भूखों के मारे चिल्लावें।
काल सर्प की सी फुफकारें, लूएँ भयानक चलती हैं
धरती की मानों परतें जिनमें लावा सा उबलता है।

सांस्कृतिक और प्रतिष्ठित भक्तिभावना का उभार भी इस युग में अनेक रचनाएँ हुईं। इनमें आत्मनिवेदन और भक्त हृदय के सरल उद्गारों की अच्छी व्यंजना मिलती है। कृष्णभक्ति शाखा की अनुकरणकारी प्रेममयी मधुर रचनाओं का परिमाण भी प्रचुर है। कविगण धार्मिक आंदोलनों की ओर भी बहुत आकृष्ट हुए। इन्होंने अनेक अंधविश्वासों और रूढ़ियों का विरोध किया। इनकी धार्मिक नीति की सबसे बड़ी विशेषता है उदार मनोदृष्टि, भ्रातृभावना और अन्य धर्मावलंबियों के प्रति सहनशीलता। सामाजिक सुधारों की ओर भी ये लेखक और कवि सचेत दिखाई देते हैं। इस समय हिंदू समाज में तीन दल थे। एक दल तो अँगरेजी शिक्षाप्राप्त उन अपरिपक्वबुद्धि नवयुवकों का था जो विदेशी भावनाओं से एकदम आक्रांत थे और सभी प्राचीन भारतीय वस्तुओं को हेय समझते थे। दूसरा दल कट्टरपंथी और रूढ़ियों से चिपके रहनेवालों का था। इन दोनों के बीच में सुधारवादी समुदाय था जो समय की गति के अनुरूप कुछ दूर तक

सभी सुख मैदानों में वे करिन किलोलें करते हैं।
नंगे तन बालक नर नारी पिसा पानी करते हैं।
अहा बिचारे दुख के मारे निसिदिन पच-पच मरें किसान।
जब अनाज उत्पन्न होय तब सब उठवा ले जाँय लगान।'

—बालमुकुंद गुप्त

× × × × ×

दीन कृषकजन ओरहु ज्या-योग दरसावहु
जिनके तन पर स्वच्छ वस्त्र कहुँ लखियत नाहीं।
मिहनत करत अधिक पर अन्न बहुत कम पावत
जे निज भुजबल हल चलाय के जगत जिवावत ''

—प्रेमघन

सामाजिक रीति-नीतियों का परिष्कार कर नये युग के अनुकूल ढालना चाहता था। भारतेंदु और उनके अधिकांश सहयोगी इसी दल के अंतर्गत आते हैं। उनकी रचनाओं में एक ओर तो विदेशी सभ्यता के रँग नवयुवकों पर व्यंग किया जाता था और दूसरी ओर रूढ़िवादियों का उपहास भी। जहाँ एक ओर इस काल की कविताओं में अँगरेजी शिक्षा प्राप्त स्त्रियों की अनोखी चालढाल पर व्यंग है वहाँ दूसरी ओर भारतेंदु देश में भीतर स्त्री शिक्षा का सुव्यवस्थित प्रचार भी चाहते हैं और नारियों को अपने प्राचीन गौरव पर अधिष्ठित कर 'शीललाज विद्यादि' से पूर्ण शक्तिमती सीता और अनुसूया आदि के रूप में देखना चाहते हैं। इस्लाम के विरोध का आभास भी इनकी रचनाओं में मिलता है। नागरी की श्रेष्ठता का प्रतिपादन, हिंदुओं की उन्नति, देश की प्रगति—इन सब विषयों पर इस काल में अनेक रचनाएँ हुई। प्रतापनारायण मिश्र की निम्नलिखित पंक्तियों में भारतेंदु काल की काव्यधारा में समाविष्ट समस्त विचार प्रधान भावधाराओं का मूल समन्वित रूप में व्यंजित है—

चहहु जो साँचो निज कल्यान,
तौ सब मिलि भारत संतान।
जपो निरंतर एक जबान,
हिंदी हिंदू हिंदुस्तान।
तबहिं सुधरिहै जन्म निदान,
तबहिं भलो करिहै भगवान।
जब निसिदिन रहिहै यह ध्यान,
हिंदी हिंदू हिंदुस्तान।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन कवियों के हृदय का सामान्य जनजीवन से पूर्ण सामंजस्य है। काव्य और जनजीवन का संबंध स्थापित कर आधुनिक हिंदी कविता के विकास में इन्होंने अ[illegible]

महत्वपूर्ण योग दिया। पर इससे यह न समझ लेना चाहिए कि इस काल में केवल इस प्रकार का सामयिक कविताएँ ही होती रहीं। प्रेम और भक्ति की मार्मिक व्यंजना भारतेंदु युग के काव्य साहित्य में प्रचुर परिमाण में मिलती है। यह सब होते हुए भी यह मानना होगा कि यह संक्रांति काल ऐसी रचनाओं के निर्माण अनुकूल न था जिनका अधिक स्थायी महत्व होता। इस काल की रचनाओं में विचारात्मकता अधिक और कवि का तन्मय हृदय कम मिलता है। उनके राजनीतिक और अन्य सुधारवादी विचार जीवन के अविच्छेद्य अंग बनकर उनसे पूरी तरह घुले मिले न थे अतएव रचनाओं में व्यंजित उनके विचार पूर्ण भावमय बनकर प्रभाव की तीव्रता नहीं ला सके। सच पूछिए तो संक्रांति काल ऐसी भावमयी साहित्य रचना के लिए अनुकूल प्राय होता भी नहीं। इस विषय में डा० एस० इलियट का यह कथन विचारणीय है कि संक्रांति के काल में कवि प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से तत्कालीन विचारधाराओं के प्रति अतिनिष्ठावान हो जाता है।*

जब तक काव्य में पूर्ण भावप्रवणता नहीं आती और मानसिक अनुभूति की उपयुक्त व्यंजना नहीं होती तब तक उसका वास्तविक स्वरूप सामने नहीं आता। पर इस बात से इस युग की रचनाओं का महत्व कम नहीं होता। इस काल के कवियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि काव्य को एक सँकरे पथ से निकाल कर इहलौ

* A period of revolution is not favourable to art, since it puts pressure upon the poet, both direct and indirect, to make him overconcious of his beliefs as held

The use of poetry and the use of criticism, Page 136

उसे लोकजीवन के साथ ला मिलाया, उसमें नवीन भावों और विचारों का सन्निवेश किया और देशभक्ति के रंग में उसे रंगा।

द्विवेदी युग

भारतेंदु युग में काव्य और समाज का जो संबंध स्थापित हुआ वह नित्यप्रति बढ़ता गया। काव्य लोक जीवन के समीप आता गया। शिक्षाप्रसार और राजनीतिक जागर्ति के कारण लोगों में मातृभाषा के प्रति भी अनुराग बढ़ा। उधर पुरानी परिपाटी के अनुसार चली आती हुई ब्रजभाषा की शक्ति भी कुछ मंद पड़ने लगी थी। जनता की वास्तविक लोकभाषा से दूर जा पड़ने के कारण उसमें पहले जैसी हृदयग्राहिता न रह गई। इधर, लोगों को यह बात भी खटकने लगी कि काव्य की भाषा कुछ और हो और गद्य की कुछ और। इन कारणों से शिष्ट-समुदाय में प्रचलित हिंदी के मान्य स्वरूप खड़ी बोली की प्रतिष्ठा पद्य के क्षेत्र में करने के लिए हमारे अधिकांश कवि प्रवृत्त हुए। इसी समय 'सरस्वती' (सन् १९०० ई०) का जन्म हुआ, जिसने कुछ ही दिनों बाद प० महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पादकत्व में युग प्रवर्तियों के अनुकूल साहित्य और भाषा स्वरूप विकास में बहुत योग दिया। इसी समय से द्विवेदी युग का आरंभ समझना चाहिए। इस काल के सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य हैं खड़ी बोली को काव्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठित करना और भाषा की अव्यवस्था को दूर कर व्याकरणसम्मत व्यवस्थित भाषा का स्वरूपनिर्धारण।

भारतेंदु युग में ही विदेशी शासन की स्थापना से सामाजिक जीवन में जो विशृंखलताएँ और असंगतियाँ प्रादुर्भूत हुई थीं विकसित होती जा रही थीं। पर द्विवेदी युग में कुछ ऐसी राजनीतिक घटनाएँ हुईं जिनके कारण भारतीयों में आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता की भावना पुष्ट हुई। अब तक यूरोपीय देशों की शक्ति अ

समृद्धि का आतंक एशियावासियों पर छाया रहता था। किंतु सन् १९०४ में रूस जापान युद्ध में जापानियों की विजय ने एशिया वासियों का सिर ऊँचा किया। पाश्चात्यों का आतंक कम हुआ और आत्मगौरव का भाव लोगों के हृदय में जागरित हुआ। इधर बंग विच्छेद के प्रश्न पर स्वदेशी आंदोलन की लहर उठी। जनता में विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार करने की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत विशेष रूप में दिखाई देने लगी। इस आंदोलन से बहुत से लोग मातृभाषा हिंदी की ओर भी आकृष्ट हुए। 'वंदेमातरम्' का पवित्र गान देश के कोने कोने में गूँजने लगा। कांग्रेस में भी कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। उसमें गरमदल का प्रभुत्व हुआ जो कर्मप्रवर्तक (रचनात्मक) कार्यक्रम में विश्वास रखता था और यह भली भाँति समझता और समझाता था कि स्वाधीनता दूसरों के दान से नहीं वरन् अपने कठिन उद्योगों से प्राप्त होती है, जिसके लिए आत्मनिर्भरता का भाव आवश्यक है।

राष्ट्रीय आंदोलनों से प्रभावित होने के कारण द्विवेदी युग के कवितओं में देशभक्ति का जो स्वरूप व्यंजित है वह पहले की अपेक्षा कुछ व्यापक है। केवल हिंदू जाति की ही ओर अपनी दृष्टि परिमित न रखकर इस काल के कवियों ने व्यापक राष्ट्रीयता की ओर ही अधिक दृष्टि रखी जिसकी नींव भारतेंदु द्वारा पड़ी थी।

इन कवियों को हम अतीत की ओर ही अधिक आकृष्ट न रहकर देश और समाज की तत्कालीन दशा का ध्यान रखते हुए उत्साह और आत्मनिष्ठा की भावना का संचार करते हुए पाते हैं। * मातृभूमि में

* नहीं रहे अधिकार तुम्हारे, न रहे, पर वे मिटे नहीं।
जन्मसिद्ध अधिकार किसी के मिट सकते हैं भला कहीं?
भूमि वही है, जहाँ निरंतर सभी सिद्धियाँ सिद्ध रहीं।

ेकर, इमा धरती की धूल में खेलकर यहाँ के अन्न जलवायु
पित, सभी जातियों और धर्मों के अनुयायी भारतवासी हैं अतएव
क व च भ्रातृत्व की भावना का प्रसार होना चाहिए—इस प्रकार
एकता का आग्रह साहित्य के द्वारा भी होने लगा। पर इस समय
विता के उग्र भावों की व्यंजना तो दूर, देशप्रेम की बहुत स्पष्ट
ना भी सुगम न थी। प्रेस के कानूनों और सेंसर की गृद्ध दृष्टि
ाय रचनाओं पर बराबर पड़ा करती थी। द्विवेदी युग का सबसे
धक लोकप्रिय रचना है गुप्त जी की 'भारत भारती'। यह संभवतः
९१ में प्रकाशित हुई। इसकी कतिपय उदार भावनाएँ आज
व में बहुत प्र ा मालूम पड़ती हैं पर छपने से पहले कवि को राज
में उसमें बहुत कुछ परिवर्तन करना पड़ा था। † यहाँ तक कि
ेश शब्द' शीर्षक प्रश्नात्मक कविता गुप्त जी को अनिच्छापूर्वक
र म जोड़नी पड़ी थी।

इस काल की राष्ट्रीय कविताओं में मार्मिकता की दृष्टि से दो
रवपूर्ण परिवर्तन हुए। मातृभूमि के प्रति केवल विचारात्मक
ालो में अपना अनुराग न दिखाकर कवियों ने मातृभूमि के कई
स्पर्शी चित्र प्रस्तुत किए। उन्होंने मातृभूमि की परम सौंदर्यमयी
कृतिक दृश्यावली का ा न करते हुए भारतमाता के प्रति श्रद्धा
ि की उस भावात्मक सत्ता का प्रसार किया जिसमें देश के प्रति

---

* ात जानता है कि दुष्कर था चमत्कार स्पष्ट यहाँ।
घाम क्या कि फिर, छिन्नभिन्न यह पराधीनता पाश न हो।
भाषा का संदेश सुना, हे भारत कभी हताश न हो।
—मैथिलीशरण गुप्त

† शासन गुप्त जी की 'भारत भारती'—साहित्य संदेश,
ास १९४१।

सची ममता के दर्शन होते हैं। ऐसी रचनाओं में मातृभूमि की परम मंगलमयी मूर्ति के दर्शन कर जहाँ हृदय में ममता जगती है, उसकी विशालता और उदारता को देखकर जहाँ गौरव का अनुभव होता है, वहां वास्तविक जगत् में उसे दीन हीन पराधीन पाकर क्षोभ, ग्लानि और शोभ भी उत्पन्न होते हैं।

राज्य की कृषि और व्यवसाय सम्बन्धी नीति के कारण देश की आर्थिक अवस्था शोचनीय होती जा रही थी। नए करों तथा साहूकारों और जमींदारों के शोषण से किसानों का दुःख दूना ही गया। कठोर शीत, मूसलाधार वर्षा और कड़कड़ाती धूप का ध्यान न रखकर कृषिकर्म में संलग्न सततप्रयत्नशील कर्तव्यनिष्ठ किसानों को अन्न मिलना भी कठिन हो रहा है—इस प्रकार के अधिक विवरण द्विवेदी युग की कविताओं में भरे पड़े हैं।

सामाजिक सुधारों की भी इस समय प्रगति होती ही जा रही थी। शिष्ट समुदाय में नवीन विचारों का प्रवेश हो रहा था और समाजसुधार की ओर लोगों का ध्यान अधिक आकृष्ट होने लगा था। सामाजिक सुधारों को लेकर इतिवृत्तात्मक रचनाएँ तो इस युग में प्रचुर परिमाण में हुईं।

इस समय पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव से लोगों में तर्क और संशय उत्पन्न करनेवाली बुद्धिवादिता का जन्म काव्य की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार की युगप्रवृत्ति का ही फल है कि प० अयोध्या सिंह उपाध्याय के 'प्रियप्रवास' की राधा लोकसेविका के रूप में हमारे सम्मुख आती हैं। इतना ही नहीं, तर्क और संशय के निराकरण के लिए श्रीकृष्ण के गोवर्द्धन को उँगली पर उठा लेने वाली पौराणिक कथा को उपाध्याय जी वर्तमान पाठक के सामने इस प्रकार उपस्थित करते हैं—

लख अपार-प्रसार-गिरीन्द्र में,
व्रजधराधिप के प्रिय पुत्र का।

सहस्र लोग लगे कहने, उसे
रख लिया उँगली पर श्याम ने।

गुप्त जी ने तो अपने 'साकेत' में सत्याग्रह, चरखा और किसान आंदोलन का भी रंग ला दिया है।*

इस प्रकार द्विवेदी युग की रचनाओं में विविध युग प्रवृत्तियों की पूरी छाप दिखाई देती है। पर मार्मिकता की दृष्टि से, अपने में लीन कर लेनेवाली रचनाएँ कम ही हुईं। इसके कई कारण हैं। एक तो भाषा को माँजकर उसमें भावसंचार की पूरी क्षमता लाने में ही विशिष्ट कविगण लगे रहे। दूसरे, व्याकरण के कठोर अंकुश और स्थूल नैतिकता के नियन्त्रण के कारण काव्य में कल्पना अच्छी तरह खिल न सकी। इस समय की अधिकांश कविताएँ विषयप्रधान और वर्णनात्मक ही दिखाई देती हैं। जो थोड़ी बहुत आख्यानक कविताएँ हैं वे प्रायः पौराणिक हैं, और जो काल्पनिक हैं उनमें भी मर्मस्पर्शी कम हैं।

छायावाद युग

इस प्रकार की रचनाओं से कवियों को मानस तृप्ति न हो सकी। द्विवेदी युग के अंतिम काल में ही कुछ कवियों ने अपनी रचनाओं में थोड़ी स्वच्छंद मनोवृत्ति का परिचय देना प्रारंभ कर दिया था। उनमें अप्रस्तुत, मनोरम कल्पना और भाव प्रवणता का अधिक परिचय अवश्य मिला, पर सन् १९१४-१८ के महायुद्ध के पश्चात हिन्दी कविता नूतन मार्ग पर स्वच्छन्द गति से बढ़ी और उसका बहुत ही रमणीय विकास हुआ।

* साकेत का प्रणयन द्विवेदी युग में ही हो गया था और उसके कई सर्ग सरस्वती में प्रकाशित हो चुके थे, पर पूरी पुस्तक बाद में प्रकाशित हुई।

उन मनोवृत्तियों का अच्छा उद्घाटन हुआ है जिनसे स
स्थिति पर काफी प्रकाश पड़ता है।

छायावादी कवियों के साथ एक ऐसा दल भी चल रह
भारतेंदु द्वारा काव्य में प्रवर्तित राष्ट्रीय धारा को बराबर
करता गया। इन कवियों में से कुछ तो राजनीति में सक्रिय
देते रहे। माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन
सुभद्राकुमारी चौहान ऐसे ही कवि हैं। इन्होंने देशभक्ति पूर्ण
मार्मिक रचनाएँ की हैं। इसका एक कारण यह भी है कि रा
के भाव और विचार इनके जीवन के अविच्छिन्न अंग बनकर
में उद्भूत हुए हैं। चतुर्वेदी जी की अधिकांश रचनाएँ क
आवरण में सामने आती हैं। 'झाँसी की रानी' की रचयित्री
जी की कविताएँ बिल्कुल सीधी सादी और सरल पर प्रभाव
हैं। नवीन जी की रचनाओं में मस्ती और उत्साह का गहरा
इन्होंने क्रांति के गीत भी गाए हैं। इनकी क्रांति यद्यपि कह
विध्वंसक भी है पर दीनजनों की दुर्दशा से क्षुब्ध आक्रोशमय
इनकी रचनाओं में अवश्य सुनाई पड़ती है।

इसके अतिरिक्त 'दिनकर' 'मिलिन्द' आदि और भी कई
वर्धक राष्ट्रीय रचनाएँ करने वाले कवि इस समय खड़े
यह दूसरी बात है कि कभी कभी इनमें 'विपथगा' क्रांति का
कारी नाद भी सुनाई पड़ जाता है।

यह सब तो गौण काव्य प्रवृत्तियों की बात हुई, प्रधान
युग में शुद्ध छायावादी कविताओं की ही रही। शुद्ध छा
कविताओं की अत्यधिक कल्पनात्मकता और प्रेम निवेदन की वि
कारण कतिपय कवि स्वयं भी ऊब उठे। ये कविताएँ काव्य
कला की दृष्टि से चाहे उच्च हों पर यह तो मानना ही पड़े
जनता के वास्तविक जीवन से ये बहुत दूर जा पड़ीं। छायाव

बहुत सी कलापूर्ण रचनाएँ सुनकर या पढ़कर प्रसन्न होने वाले चाहे पर्याप्त शिक्षित व्यक्ति मिल जायँ पर उन्हें ठीक ढंग से समझने वाले अब भी कम हैं।

छायावादी कविताओं का प्रचलन धीरे धीरे कम होने लगा। 'छायावाद' के प्रतिनिधि कवि श्री सुमित्रानन्दन पंत 'रूपाभ' में युग वाणी सुनाने का प्रयत्न करने लगे। उसके सम्पादकीय में उन्होंने लिखा—"इस युग की वास्तविकता ने जैसा उग्र आकार ग्रहण कर लिया है उससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गए हैं। श्रद्धा अवकाश में पलने वाली संस्कृति का वातावरण आन्दोलित हो उठा है और काव्य की स्वप्न जड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न रूप से सहम गई है। अतएव इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं पल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण सामग्री धारण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है।"

['रूपाभ' (वर्ष १ संख्या १)—जुलाई १९३८]

इस समय राजनीतिक जगत में भी कुछ ऐसा परिवर्तन हुआ है जिसका हिंदी काव्यधारा की वर्तमान प्रवृत्ति से घनिष्ठ संबंध है। अबतक राष्ट्र व महासभा कांग्रेस पर केवल गांधीवाद का ही व्यापक प्रभाव था। गांधीवाद एक स्वतंत्र जीवन-दर्शन है जिसका मूल नैतिक आधार है मानव प्रेम और अहिंसा। यह राजनीति के क्षेत्र में भी अहिंसात्मक सत्याग्रह का प्रयोग करता है। इसके अनुसार जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य आत्मा की आध्यात्मिक उन्नति और भगवत्प्राप्ति है। त्याग सेवा और मानव प्रेम की भावना के प्रसार से ही इस लक्ष्य की पूर्ति हो सकती है। अहिंसात्मक सत्याग्रह के द्वारा अत्याचारियों और शत्रुओं का हृदय परिवर्तन कर समाज के वैषम्य म

और अत्याचार का अंत किया जा सकता है। आर्थिक सुधार
लिए आत्मनिर्भर ग्रामों की स्थापना और रचनात्मक कार्य सम्पन्न
होना चाहिए।

गांधीवाद की इस विचारधारा से भिन्न मार्क्सवाद की नीति है
रूस में इसके अनुसार शासन व्यवस्था हो जाने के कारण यूरोप
इसके विचारों का प्रसार हुआ। भारत में भी मार्क्सवाद की चर्चा
होने लगी।

मार्क्सवाद-प्रगतिवाद

मार्क्सवाद के अनुसार सृष्टि का मूल भौतिक पदार्थ या भूततत्त्व (मैटर) है जिसका विकसित रूप है वर्तमान जगत्। जगत् निरंतर परिवर्तनशील है, पर यह परिवर्तन ईश्वर अथवा अन्य किसी सर्वशक्तिमान परोक्ष सत्ता द्वारा सचालित न होकर स्वयं ही परिवर्तित होता रहता है। प्रस्तुत अवस्थान (थीसिस) के भीतर आंतरिक असंगतियाँ (इनर कान्ट्रैडिक्शन्स) प्रादुर्भूत होती हैं जिनके भीतर उनके विनाश के बीज निहित रहते हैं। इन असंगतियों के बढ़ते-बढ़ते एक ऐसी अवस्था आती है जब पूर्व अवस्थान नष्ट हो जाता है और प्रत्यवस्थान (ऐण्टी थीसिस) प्रतिष्ठित होता है। इस प्रत्यवस्थान के भीतर आगे चलकर पुन असंगतियाँ उत्पन्न होकर बढ़ती जाती हैं और उसके स्थान पर फिर एक समवस्थान (सिन्थेसिस) का निर्माण होता है। तात्पर्य यह कि यह सृष्टि दो विरोधी तत्वों के द्वन्द्व से स्वयं ही गतिशील होती रहती है। कुछ काल तक उसमें दोनों विरोधी तत्वों की साम्यावस्था (इक्विलिब्रियम) रहती है, फिर स्वतः क्षोभ उत्पन्न होने पर उनमें द्वन्द्व होता है और अंत में एक नया अवस्थान होता है जिसमें इन शक्तियों की साम्यावस्था रहती है। इस प्रकार द्वन्द्व और परिवर्तन का क्रम निरंतर चला करता है। इन दो विरोधी

शक्तियों की द्वन्द्वावस्था में एक ऐसी स्थिति आती है जब मात्रा (क्वान्टिटी) के साथ साथ वस्तु या पदार्थ में गुणात्मक परिवर्तन अत्यंत वेगपूर्वक (क्रांति की दशा) होता है। मात्रा और गुण का यह परिवर्तन क्रम भी सदा चलता रहता है। इस सिद्धान्त को मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (डायलेक्टिक मेटीरियलिज्म) कहते हैं।

जगत् का मूल जिस प्रकार भौतिक पदार्थ (मैटर) है उसी प्रकार समाज संघटन का मूल आधार आर्थिक व्यवस्था है। जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं की उत्पादिका शक्ति के विकास के अनुरूप ही समाज के व्यक्तियों का पारस्परिक संबंध स्थापित होता है। उत्पादक साधनों के संघटन से ही समाज का आर्थिक ढाँचा खड़ा होता है, जिस पर मनुष्य की समस्त कार्य प्रणालियाँ—राजनीति, धर्मनीति और साहित्य आश्रित हैं। इसी विचार प्रणाली के अनुसार मार्क्सवादी 'इतिहास की अर्थमूलक व्याख्या' (एकनामिक इंटरप्रिटेशन आफ हिस्ट्री) करते हैं।

समाज के वर्तमान दुःख क्लेश तथा वैषम्य का कारण है वस्तुओं के उत्पादन, विनिमय और वितरण पर थोड़े से पूँजीपतियों का अधिकार। इसीलिए समस्त समाज प्रधानतः दो वर्गों—शोषक और शोषित—में विभाजित हो गया है। वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था के उन्मूलन से ही वर्ग गत स्वार्थों और समाज के वैषम्य का नाश हो सकता है। वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करना आवश्यक है, और यह सब होगा क्रान्ति के द्वारा। क्रांति वर्ग-संघर्ष के चरम विकास की अवस्था में ही घटित हो सकती है, अतः समाज में वर्ग चेतना उत्पन्न करनी चाहिए।

मार्क्सवाद के अनुसार वर्तमान अवस्था में आमूल परिवर्तन होने पर ही वैषम्य मिट सकता है इसलिए मार्क्सवादी लोग पीड़ितों की दशा में सुधार मात्र से संतुष्ट नहीं होते। पीड़ितों के लिए अधि

प्रगतिवाद का इतिहास

'प्रगतिवाद' शब्द का प्रयोग हिन्दी में चाहे नया हुआ हो पर वर्तमान अर्थ में सामान्य रूप से यह पद सन् १९३६ से हिन्दी साहित्य में प्रचारित होने लगा, जब लखनऊ में 'प्रगतिशील लेखक संघ'* का प्रथम अधिवेशन हुआ और उसके सभापति हुए प्रेमचन्द

---

* प्रगतिशील लेखक संघ (प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन) अब एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के रूप में हो गया है। अनेक देशों में इसकी शाखाएँ हैं। इसकी स्थापना सन् १९३५ में हुई और प्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक ई० एम० फोरस्टर के सभापतित्व में इसका पहला अधिवेशन पेरिस में हुआ। डा० मुल्कराज आनन्द और सज्जाद ज़हीर के उद्योग से भारतीय प्र० ले० सं० की स्थापना १९३६ में हुई। इसके पहले अधिवेशन के सभापति प्रेमचन्द जी और दूसरे के महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर हुए।

जी। अपने भाषण में उन्होंने साहित्य में बढ़ती हुई प्रेम और वेदना की लहर की तीव्र आलोचना की। उन्होंने कहा कि साहित्य केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं है। वर्तमान काल में जब कि हमारे समाज और देश की अवस्था सङ्कटापन्न है, हमें ऐसा साहित्य निर्मित करना चाहिए जिसमें वर्तमान विपन्नावस्था का प्रतिबिंब और उससे परित्राण पाने के लिए आशापूर्ण संदेश निहित हो। "नीतिशास्त्र और साहित्यशास्त्र का लक्ष्य एक ही है—केवल उपदेश विधि में अंतर है। नीतिशास्त्र तर्कों और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिए मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है। मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीजों की तरह साहित्य को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ। फूलों को देखकर हमें इसलिए आनंद होता है कि उनसे फलों की आशा होती है।"

अंतिम वाक्य ध्यान देने योग्य है। प्रगतिवादी का यह सिद्धांत भी इस उपयोगितावादी मत का कट्टर प्रचारक है। पर मार्क्सवादी सिद्धांतों का उल्लेख प्रेमचन्द्र जी के भाषण में नहीं है। आर्थिक परिस्थितियों और वर्गसंघर्ष को विभिन्न दशाओं के बीच रखकर साहित्य की परीक्षा करने का उपक्रम अभी तक नहीं हुआ था। यह हुआ कुछ दिन बाद 'विशाल भारत' में प्रकाशित एक लम्बे लेख में।* इस लेख में मार्क्सवाद, वर्गसंघर्ष और भौतिकवाद की लम्बी चर्चा के साथ ही वर्तमान साहित्य को पूँजीवाद की ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों का द्योतक बताया गया और वर्गवादी साहित्य की सृष्टि का आग्रह किया गया।

* "भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता"—लेखक—श्रीशिवदानसिंह चौहान ; विशालभारत, मार्च १९३७।

प्रगतिवादी काव्य की स्पष्ट पर प्राथमिक दशा का झलक जुलाई सन् १९३८ में श्री सुमित्रानन्दन पंत और श्री नरेन्द्र शर्मा के सपादकत्व में निकलने वाले कालाकाँकर के मासिक पत्र 'रूपाभ' में मिली। रूपाभ थोड़े ही दिनों बाद बंद हो गया। इधर प्रगतिवाद की विशद व्याख्याएँ और रचनाएँ काशी के 'हंस' में व्यवस्थित रूप से प्रकाशित होने लगीं, जब से (सन् १९४१) उसके सपादक श्री शिवदान सिंह चौहान हुए। इस बीच प्रगतिवाद की चर्चा अन्य पत्र पत्रिकाओं में भी होती रही। हिंदी साहित्य सम्मेलन के पूना अधिवेशन में पं० नंददुलारे वाजपेयी ने हिंदी काव्य की इस नवीन प्रवृत्ति पर विस्तृत प्रकाश डाला।

अब तक पंतजी का 'युगवाणी' प्रकाशित हो चुकी थी और बहुत से कवियों ने इस प्रकार की रचनाएँ लिखनी प्रारंभ कर दी थीं। आलोचना के क्षेत्र में भी मार्क्सवादी विचारों से रँगे लेखों के दर्शन होने लगे।

मार्क्स के भौतिकवाद से प्रभावित होकर रचनाएँ करने वालों में पंत जी सब से आगे आए। इन भौतिकवादी विचारों को लक्ष्य में रखकर पहले पहल लिखी गई प्रगतिवादी रचनाएँ इनकी 'युगवाणी' 'मानवपशु' और श्री रामविलास शर्मा की 'कलियुग' और 'हड्डियों का नाच' हैं। रूपाभ के अंकों में पंतजी की नए ढंग की कई कई रचनाएँ एक साथ प्रकाशित होने लगीं। इससे बहुत से नवयुवक कवि इस ओर आकृष्ट हुए। पंतजी की ऐसी रचनाओं के कुछ अंश उद्धृत किए जाते हैं—

"व्याप्त हो घन छाया स्नेह नव,
ज्ञान ज्योति हो चिन्मयेह नव
राम श्रम आराध्याराध्य

बन जाय राग, मधु, पानी।
युग की वाणी!"

(युगवाणी)

× × × × ×

"युग, युग से रच शत शत नैतिक बंधन,
बाँध दिया मानव ने पीड़ित पशु-तन।
विद्रोही हो उठा आज पशु दर्पित,
वह न रहेगा अब नव युग में गर्हित।
नहीं सहेगा रे वह अनुचित ताड़न,
रूढ़ि नीतियों का गत निर्मम शासन।
वह भी क्या मानव जीवन का लाछन ?
वह मानव के देहभाव का वाहन।
नहीं रहे जीवनोपाय तब विकसित,
जीवन-यापन कर न सके तब इच्छित।
नैतिक सीमाएँ कर बहु निर्धारित,
जीवन इच्छा की जन ने मर्यादित।

+ + + + +

देव और पशु, भावों में जो सीमित,
युग युग में होता परिवर्तित, अवसित।
मानव-पशु ने किया आज भव अर्जित,
मानव-देव हुआ अब वह सम्मानित।
मानव के पशु के प्रति,
मध्यवर्ग की हो रति।

(मानव पशु

—रूपाभ, जुला

"आज सत्य, शिव, सुन्दर केवल
वर्गों में हैं सीमित,
ऊर्ध्वमूल संस्कृति को होना
अधोमूल है निश्चित।"
(मूल्यांकन)
—रूपाभ, अगस्त '३८

इन पंक्तियों में पीड़ित जन समुदाय की उस विपन्नावस्था का वर्णन है जिसे समाज के उच्च वर्ग ने अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए सम्भव बनाया है। शत शत नैतिक बंधनों के जाल बिछा कर निम्नवर्ग को समाज ने जकड़ लिया था पर आज उसमें नवीन जागृति और चेतना का आविर्भाव हो गया है। अब वह रूढ़ियों और नीतियों के अनुचित शासन नहीं सहेगा। वर्तमान समय में सत्य शिव और सुंदर वस्तुएँ उच्चवर्ग की सीमा में ही संकुचित हैं। ऐसे वर्ग समाज का नाश करके धरा में ऐसा स्वर्ग समुपस्थित करना चाहिए जिस में न तो श्रेणी-संघर्ष हो, न रूढ़ियों का जाल हो और न जहाँ 'जन श्रम शोषण' हो।

इस प्रकार नवीन काव्य की मूल विचारधारा का परिचय पहले पहल पंतजी ने ही दिया। अतएव हिंदी में प्रगतिवादी (साम्प्रदायिक) काव्य के सूत्रपातकर्ता ये ही ठहरते हैं और प्रगतिवाद काल प्रारम्भ होता है सन् १९३८ से।

ऊपर उद्धृत पंक्तियों में जिस राजनीतिक विचार का आभास मिलता है उसका पूरा विस्तार पंतजी की रचनाओं में हुआ, पर ध्यान देने की बात यह है कि उन्होंने वर्ग संघर्ष और हिंसात्मक क्रांति का प्रचार नहीं किया है। जहाँ उन्होंने रूढ़िवादियों की भर्त्सना की है वहीं संकीर्ण भौतिकवादियों के दृष्टि विस्तार की कामना भी प्रकट की है। स्थूल राजनीतिक मत मतांतरों से, अन्य प्रगतिवादी कवियों की

अथवा, अपना कवि का रूप एकदम आच्छन्न हो जाने में कुछ न कुछ यत्न का प्रयत्न भी उन्होंने किया है। उनकी नवीन परिवर्तित दृष्टि की कुछ सूचना उनके इस कथन में है— 'ऐतिहासिक भौतिकवाद और भारतीय अध्यात्म दर्शन में मुझे किसी प्रकार का विरोध नहीं जान पड़ा, क्योंकि मैंने दोनों का लोकोत्तर कल्याणकारी पक्ष ही ग्रहण किया है। मार्क्सवाद के अंदर श्रमजीवियों के संगठन, वर्ग संघर्ष आदि से संबंध रखने वाले बाह्य दृश्य को, जिसका वास्तविक निर्णय आर्थिक और राजनीतिक क्रांतियाँ ही कर सकती हैं, मैंने अपनी कल्पना का अंग नहीं बनने दिया है।' * और इसीलिए यदि कोई कट्टर प्रगतिपंथी यह कहता मिले कि 'पंतजी जहाँ पहले थे वहीं अब भी हैं' अथवा 'अब भी उनके दृष्टिकोण में हम कोई मौलिक अंतर नहीं देखते' तो समझना चाहिए कि असली शिकायत यह है कि पंतजी अब भी अपना कवि रूप बनाए ही चल रहे हैं।

हिंदी में प्रगतिवाद की लहर चल पड़ने पर उन रूसी और अँगरेजी कविताओं की बहुत अधिक चर्चा चलने लगी है जो मार्क्सवाद के साँचे में भलीभाँति ढली हैं। अतः संक्षेप में यहाँ रूसी और अंग्रेजी के वर्तमान काव्य साहित्य का परिचय दे देना आवश्यक प्रतीत होता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि कविता और समाज का अविच्छिन्न संबंध है अतः सामाजिक मनोभावों का प्रतिबिंब उस पर पड़ना अवश्यंभावी है। इतना ही नहीं, उसमें ऐसे उत्थानमूलक भावों का भी सन्निवेश होना चाहिए जो जन मन को कर्म प्रेरक उत्साह प्रदान कर सकें। पर यह ध्यान भी होना ही चाहिए कि अपने कुछ विशेष गुणों के कारण जिस रचना प्रकार का नाम काव्य पड़ा उसमें उन गुणों की अवस्थिति आवश्यक है, अन्यथा उसे काव्य न कहकर कुछ

* आधुनिक कवि—श्रीसुमित्रानंदन पंत पृ० १० (प्रथम संस्करण)

और कहना होगा। पर इन बातों पर ध्यान गया नहीं। प्रसिद्ध रूसी राजनीतिक क्रांति के पश्चात् वहाँ ऐसे नियम बनाए गए जिन्होंने साहित्य को भी अपने ही संकेतों पर चलने को बाध्य किया।

रूसी क्रांति के पहले वहाँ कवियों के दो प्रधान दल थे—भविष्य का सुख स्वप्न देखनेवाले 'भविष्यवादी' (फ्यूचरिस्ट), और फ्रायड के मनोविज्ञान से प्रभावित प्रतीक पद्धति पर चलनेवाले 'मूर्तिकल्पना वादी' (इमेजिस्ट)। भविष्यवादी दल के भीतर ही मार्क्सवाद के प्रचारक कवि भी थे। मूर्तिकल्पनावादियों का दल तो अपने दुरूह व्यक्तिवैचित्र्यवाद के कारण कुछ दिनों बाद स्वयं ही समाप्त हो गया था। रह गए भविष्यवादी। बाद को इनका भी अस्तित्व नहीं रह गया, क्योंकि क्रांति के पश्चात् तो एक नए समाज का स्वरूप प्रस्तुत हो हो गया था। अब प्रस्तुत रूसी समाज व्यवस्था और राजनीति से सहमत कवियों ने एक नया वाद फिर खड़ा किया, जिसका नाम रखा गया समाजवादी यथार्थवाद (सोशलिस्टिक रियलिज्म)। इसका कहना है कि समाज की प्रगतिशील शक्तियों को पहचान कर उनकी अभिवृद्धि में साहित्य को योग देना चाहिए। और यह प्रगतिशील तत्त्व है मार्क्सवादी विचार धारा। इसका प्रचार करने में कवियों को जुट जाना चाहिए। अर्थात् प्रचारात्मकता कविता का मुख्य लक्षण ठहराया गया। अब व्यावहारिक पक्ष देखिए। आर्थिक उन्नति के लिए रूस में 'पंचवर्षीय योजना' और 'सामूहिक कृषि कार्य संपन्न' आदि की व्यवस्थाएँ हुईं। कवियों और लेखकों से आग्रह किया गया कि वे इन योजनाओं को सफल बनाने के लिए अपनी रचनाओं के द्वारा इन योजनाओं के स्वरूप तथा लाभों से समाज को अवगत कराएँ। साहित्यकारों के दल इन प्रयोगात्मक व्यवस्थाओं का निरीक्षण करने के लिए भेजे गए जिससे वे ठीक जानकारी से इनका प्रचार कर सकें।

इनका साहित्यिक मोर्चा (लिटरेरी फ्रंट) कायम हुआ। वे सब नवीन व्यवस्थाओं की प्रशंसा करते और मार्क्सवादी विचारों की व्यंजना अपनी रचनाओं में करने का आग्रह लेखकों से करते थे। यही नहीं, रूस के शासनाधिकारी भी इन साहित्यिक संघटनों का निर्देश देते रहे, जिनके अनुसार लेखकों को अपनी नीति निर्धारित करनी पड़ती थी। साहित्य की कोई अपनी सत्ता वहाँ नहीं रह गई। वह राजनीति का अनुगामी और प्रचारक हुआ। अधिकांश नवयुवक लेखक अपने को 'पहले *मार्क्सवादी फिर और कुछ*' *समझने लगे।** मार्क्सवादी कवियों में प्रधान है मायाकोव्स्की। यह एक उच्चकोटि का कवि था। भावों का उत्कर्ष और काव्य कल्पना की सौंदर्यच्छटा इसकी अनेक रचनाओं में देखने को मिलती है। इसकी क्रांति के पश्चात् की रचनाओं में भी कई मनोहर काव्य स्थल मिलते हैं। ऐसी ही रचनाओं के कारण साहित्य में उसकी प्रतिष्ठा होगी। पर रूस में राजनीतिज्ञों ने जब साहित्य पर तरह तरह के बंधन लगाए, तब उन्हीं के निर्देशों पर रूसी काव्य चलने लगा। मायाकोव्स्की ने भी यही पथ ग्रहण कर लिया। उसने कहा कि "मैं काव्य की उच्चभूमि से कम्युनिज्म के बीच कूद रहा हूँ, क्योंकि अन्यत्र मुझे प्रेम भावना नहीं मिलती। मैं सोवियत के लिए 'सुख का उत्पादन' करनेवाला कारखाना हूँ" इत्यादि। †

---

* उदाहरण के लिए एक रूसी कवि ने लिखा है—

I carry my Membership card not in my pocket
in myself —Bezymensky

† I
hurl myself into Communism
from the heights of Poetry above
because without it

इन सब का फल यह हुआ कि रूसी काव्य साहित्य एक पूर्व निश्चित विचारधारा के अनुसार निर्मित होने लगा जिससे उसमें कृत्रि

for me,
there is no love

× × × ×

I m a Soviet factory
manufacturing happiness

× × × ×

I want the p n,
to equal the gun
to be listed
with iron
in industry
And the Polit Bureau s agenda
Item I,
to be Stalin s Repo t on
"The output of Po try :
It s like this
and that
Out of burrov s
the wo king class
has climbed right up
to the top of the tree
In th Union R publics
th pre war l vel s
been far surpass d
in th und starding
of Poetry

—From "*Homecards* —translated by Herbert Marshall

अथ उनक लिए नहीं है जबतक कि उनका स्तर बहुत निम्न न हो और उनमें छिछली भावकता का प्रश्रय न मिला हो।*

---

* Poetry for the Workers became at once an ideal and a cant phras for po try unless it is diluted to the point at which it b com s the doggerel vehicle of s ntiment rarely interests the masses—though among the mass s as well as among the class s there are a few to whom po try is a nec ssity

—*Twentieth Century Literature*, by A C Ward Page 198

काव्य-सिद्धांत

काव्य प्रातिबिंबिक सत्ता है। प्रतिबिंब किसका? प्रतिबिंब उस दृश्य जगत् का जो समस्त चर और अचर सृष्टि की समष्टि है। इस सृष्टि अथवा व्यक्त सत्ता के अंतर्गत जड़ प्रकृति, जीव-जंतु तथा मानव समूह सभी आते हैं। मानव-समूह समाजों में संघटित है। इन समाजों तथा इनकी विभिन्न व्यवस्थाओं का संघटन व्यक्तियों के पारस्परिक रागात्मक संबंध ने संभव बनाया है। राग विराग की यह प्रवृत्ति निवृत्ति हमारी मनुष्यता के साथ साथ लगी है। समाज से दूर वन के एकांत में रहने वाले व्यक्ति का भी इससे छुटकारा नहीं। जिस वृक्ष की सुखद छाया में वह आश्रय लेगा उसके प्रति ममत्व का अनुभव करेगा, पक्षिवृंद का प्रातःकालीन मधुर कलरव सुनकर वह प्रसन्न होगा और वहीं कुछ ऐसी पूतिगंधमय वस्तुएँ भी होंगी जिन्हें वह नहीं चाहेगा। कहने का तात्पर्य इतना ही कि राग विराग की प्रवृत्ति

स्थान मनोभाव मनुष्य जगत के साथ हैं। काव्य इन सभी—प्रकृति जगत् और प्राणिजगत् तथा उनके बीच संबंधित होने वाले मनोभावों—का प्रतिबिंब है।

सभ्यता के विकास के बहुत पहले मनुष्य जंगलों में रहता था। जीवन यापन के लिए उसे आज जैसी सुविधाएँ नहीं प्राप्त थीं। भावों का आदान प्रदान भी सुगम न था। पर सुख दुःख, राग विराग की अनुभूति तो उसे होती ही थी। प्रकृति के किसी सुषमा-मंडित रहस्यमय दृश्य को देखकर वह विस्मय विमुग्ध हुआ और किसी त्रास कारी दृश्य को देखकर उसे डर भी लगा। किसी सुदर्शन व्यक्ति को उसने प्यार किया, किसी मनोज्ञ वस्तु के प्रति उसके मन में ममता जगी, विद्रूप वस्तु या व्यक्ति से उसे ग्लानि या घृणा हुई। क्षुधा-तृप्ति पर उसे संतोष और भूख लगने पर कष्ट का अनुभव हुआ। अपने मन के इन विभिन्न भावों को उसने पहले संकेतों और अस्पष्ट ध्वनियों द्वारा व्यक्त किया। धीरे धीरे शब्दों का निर्माण हुआ। एक शब्द से, एक सार्थक ध्वनि से, सब लोग एक साथ ही एक ही वस्तु या भाव का ग्रहण करने लगे। इस प्रकार जब शब्दों में ऐसी प्रतीकात्मकता आ गई कि उनके द्वारा एक प्रकार के भाव सर्वग्राह्य हो सकें तब भाषा बनी। दैनिक जीवन के व्यवहार में आते आते भाषा मँजती गई और उसमें बहाव आता गया। यही बहाव लय या संगीत तत्त्व है। सामूहिक आनंदोत्सव, यज्ञ, आखेट यात्रा आदि के अवसरों पर इसी लय युक्त भाषा का व्यवहार होने लगा। पर यह पूर्ण कविता नहीं हुई।

लोक हृदय को पहचानने वाले समाज के कुछ विशिष्ट व्यक्तियों या प्रातिभों ने इसी लययुक्त भाषा में सामान्य हर्ष विषाद के भाव व्यक्त किए। इन्हीं कवियों ने काव्य की नींव डाली। इनका हृदय लोक भावनाओं का संगम था, जिससे काव्य सरिता की धारा प्रवाहित

हुई। इनकी वैयक्तिक सुख-दुःख की भावनाएँ लोक हृदय में लीन हुई थी। व्यक्तिगत हानि लाभ की भावना से दूर इनकी वाणी ने हा लोक के मन्तव्य को सम्मुख मानवीय सौन्दर्य और कर्मसौंदर्य की विभूति का उद्घाटन किया। यह सर्वाङ्ग कानन्समन्वित वाणी ही काव्य निमात्री है।

मानव मात्र ही नहीं उन्होंने समस्त चराचर के साथ तादात्म्य का अनुभव किया था। ऐसे ही विशाल हृदय के साथ काव्य का सम्बन्ध है। व्याध के बाणों से आहत रक्त में सने हुए क्रौंच की पीड़ा का अनुभव कर आदि कवि के हृदय में जो शोक की धारा प्रवाहित हुई—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

न यह नहीं उसमें न तो 'अर्थ' (धन) की प्रेरणा थी न

मार्क्सवादी आलोचक काडवेल काव्य के आर्थिक मूलाधार के लिए कठोर आग्रह करता है। * पर सच पूछिए तो काव्य का क्या, जीवन का भी आधार केवल आर्थिक नहीं है।

मनुष्य की सबसे प्रधान इच्छा है सुख या आनन्द की प्राप्ति। इसकी प्राप्ति के लिए वह सुख सामग्री एकत्र करता और जगत् के नाना जटिल व्यापारों में उलझता है। पर यदि मनुष्य केवल अपने व्यक्तिगत सुख का ही ध्यान रखने लगे तब तो यह उसकी घोर स्वार्थपरता हुई। उसके सुख या आनन्द की सामग्री की भी परिमिति होनी चाहिए जिससे उसके दूसरे साथियों को कष्ट न हो। उसे अपने आनन्द के साथ लोक के आनन्द का भी ध्यान होना चाहिए। यही नहीं, लोक के आनन्द में उसे भी सुख मानना चाहिए, अन्यथा समाज का सुचारु संगठन हो नहीं हो सकता। इसलिए समाज का संगठन पारस्परिक सामंजस्य के आधार पर होता है, जिसे पुराने लोग 'धर्म' कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य पहले किसी बात की इच्छा करता है और फिर उसकी पूर्ति के लिए सुख सामग्री एकत्र करता है। पर उसकी व्यक्तिगत इच्छा और सुख सामग्री-संकलन पर सामाजिक सामंजस्य के नियमों का अंकुश भी रहता है। मानव जीवन के विकास के लिए इन सभी का योग आवश्यक होता है केवल अर्थ का ही नहीं।

काव्य पर इन स्थूल व्यवस्थाओं का भी प्रतिबिंब पड़ता तो है पर मूलतः उसकी जन्मभूमि हृदय है। वह हृदय, जो अपनी भावात्मक सत्ता के पूर्ण विस्तार का अनुभव विश्वात्मा में लीन होकर ही करता

---

* Poetry is regarded then, not as something racial, national genetic or specific in its essence but as something economic

—*Illusion and Reality*, Page 7

है। ऊपर उद्धृत आदिकवि की मर्मस्पर्शी पंक्तियों में कौन सी आर्थिक प्रेरणा है, तुलसी की पुनीत भक्ति भावना में किस आर्थिक एषणा का योग था। सूर के काव्य में कौन सा आर्थिक रंग है।

काव्य का प्रधान लक्ष्य है मनुष्य की भावात्मक सत्ता का विस्तार। वह करता है उसकी रागात्मक वृत्तियों को तीव्र और परिष्कृत करने में। रागात्मक वृत्तियाँ हृदय में उत्पन्न होती हैं और यह हृदय ही काव्य की प्रकृत भूमि है। काव्य का संबंध इन रागात्मक मनोवेगों से ही है। ये मनोवेग आर्थिक स्थिति के साँचे में ढलकर नहीं निकलते चाहे इनके प्रकाशन के ढंग में बाहरी परिस्थितियों के प्रभाव से कुछ स्वरूप विभिन्नता दिखाई पड़ जाती हो। पर इन बाहरी परिस्थितियों का भी आर्थिक स्थिति एक अंगमात्र है।

काव्य की रागात्मक सत्ता का विस्तार कभी तो प्रकृति के वैभव के बीच होता है और कभी मानव समाज के बीच। उसकी कल्पना जगत् से बाहर किसी अगम्य सौंदर्य और आनंद के लोक में भी विचरण करती है। पर यदा कदा ही। इस प्रकार काव्य की मुख्य भूमियाँ दो ही रहती हैं—प्रकृति क्षेत्र और मानव समाज। प्रकृति के व्यापारों में कवि लीन अवश्य होता है और पाठक या श्रोता को भी लीन कराना चाहता है किंतु काव्य की विस्तृत भूमि मानव समाज ही है। केवल प्रकृति के व्यापारों से काव्य का लक्ष्य सिद्ध नहीं हो सकता, वह हमारे जीवन में स्फूर्ति लाने या उद्दीप्त करने के लिए है। कदाचित् इसीलिए प्राचीन शास्त्रों में प्रकृति के व्यापार उद्दीपन के अंतर्गत रखे गए हैं। इस प्रकार मानव-समाज ही सम्पूर्ण काव्य की विस्तृत भूमि ठहरता है। अतः यहाँ हम उसी का विचार करते हैं। प्रगतिवादी काव्यधारा भी मानव-समाज को ही काव्यभूमि मानकर चलती है।

समाज में मनुष्य रहता है। मानव जीवन से ही समाज की भावसत्ता

है। इसी प्रकार का अर्थ बताया जाता है। पर मनुष्य तो परिवर्तन में रहता रहता है। कुछ दिन तक जो रहकर जगत् के गतिशील प्रवाह में एक भाग होकर वह वहीं न रहा जाता है। पर क्या इसी भाँति उसकी सभी कृतियाँ भी अपनी कलाओं के साथ ही साथ समाप्त हो जाती हैं? क्या उनका आकर्षण, उनका सौंदर्य, उनकी मर्मस्पर्शिता भी थोड़े ही काल में उसके साथ नष्ट हो जाती है? हम बराबर देखते आ रहे हैं कि ऐसा तो नहीं है। वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी और हमर, शेक्सपियर, गेटे आदि की रचनाएँ आज भी हमारे मन को स्पर्श करती हैं, हमें प्रफुल्लित करतीं और प्रकाश देती हैं। तो फिर क्या कारण है इनके दीर्घकालव्यापी अस्तित्व और प्रभाव का? ये भी तो जीवन से ही सम्बद्ध हैं।

काव्य में कहीं तो अनित्य सामयिक समस्याओं और स्थितियों का वर्णन होता है और कहीं ऐसे नित्य सौंदर्य का उद्घाटन होता है जिसकी सत्यता और प्रभावोत्पादकता अनेक युगों को पार कर भी विपर्ययहीन बनी रहती है। पर ये सामयिक समस्याएँ भी जीवन की ही हैं और सौंदर्य भी जीवन का ही है। सामयिक समस्याएँ सामयिक आवश्यकताओं की उपज हैं और सौंदर्य हृदय के विशुद्ध भावों का निर्माण। सामयिक समस्याओं से उद्भूत रचनाओं का महत्त्व तो आवश्यकता की पूर्ति हो जानेपर समाप्त हो जाता है पर मानव हृदय की विशुद्ध भावभूमि पर उत्पन्न रचनाओं का महत्त्व तब तक बना रहेगा जब तक मनुष्य के हृदय में भावों का संचार है। मानव हृदय की यह विशुद्ध भावात्मक सत्ता ही एक ऐसा सूत्र है, जो सभी युगों में सभी कालों में मनुष्य को एक दूसरे से सम्बद्ध रखता है। मानव हृदय का यही भावात्मक अंश जीवन की अखंडता और व्यापकत्व का अनुभूति कराता है। उसी का विस्तार हमारे वर्तमान जीवन के पहले भी था, वर्तमान समय में भी है और भविष्य में भी

रहेगा। इसी एकता की अनुभूति के कारण हम अतीत की ओर आकृष्ट होते हैं और भविष्य की आनंद कल्पना में प्रसन्न। यदि केवल स्वार्थ की दृष्टि से देखें तो अतीत के गड़े मुर्दे उखाड़ने से क्या लाभ? और जिस भविष्य में हम न रहेंगे उसकी आनन्द कल्पना और उसके लिए प्रयत्न क्यों? तब तो वर्तमान जीवन में सुख भोग लेना ही हमारे सारे कर्मों का चरम लक्ष्य होता। पर ऐसा नहीं है। हमारा आनंद तभी पूर्ण होता है जब हमारी दृष्टि वर्तमान के अतिरिक्त आगे और पीछे भी जाती है। इसी भाव से आर्य गृहस्थ अपने मृत पुरखों के प्रति कृतज्ञतापूर्वक नतमस्तक होता है और अनेक प्रकार उपचारों द्वारा अपनी श्रद्धा के फूल उनकी स्मृति में अर्पित करता है। तर्क और संशय के आधार पर चाहे भारतीयों की इस मनोवृत्ति की हँसी उड़ायी जाय पर हमें तो मनुष्य की भावात्मक सत्ता का पूर्ण विस्तार इसमें दिखाई देता है। इस दीर्घकालव्यापिनी भावात्मक सत्ता की अनुभूति में योग देना ही काव्य का उच्चतम लक्ष्य है।

इस प्रकार कहना चाहें तो कह सकते हैं कि काव्य दो प्रकार का होता है १—सामयिक जीवन की व्यंजना करने वाला और २—अनंतकालव्यापी मानवजीवन की भावात्मक सत्ता का आभास देने वाला। दूसरा प्रकार काव्य का उच्च और शाश्वत स्वरूप उपस्थित करता है और पहला उसका कनिष्ठ तथा अनित्य स्वरूप। आवश्यक दोनों ही हैं पर सामयिक जीवन की व्यंजना करनेवाले काव्य या साहित्य को ही उत्कृष्टतम कहलाना अनुचित है।

सामयिक जीवन की व्यंजना करने वाले साहित्य को हम महत्त्वहीन नहीं मानते। हमारा कहना केवल इतना ही है कि दूसरे प्रकार के उदात्त भावों का अनुभव करने के अवसर उपस्थित में शक्ति नष्ट नहीं करनी चाहिए और दूसरा और सदा सामयिकता पर ही दृष्टि रखकर

यह हमारे व्यक्तिगत रागद्वेष के प्रभाव से हमें हटाकर विशुद्ध भाव की उस उच्चभूमि पर ले जाकर विचरण कराता है जहाँ हम सारे विश्व के साथ एकात्म्य का अनुभव करते हैं। दूसरे के दुःख पर हम दुःखी होते हैं दूसरे की पीड़ा का अनुभव कर हम रोते हैं और दूसरे के हर्ष और आनंद में हम भी आह्लादित होते हैं। यही नहीं समस्त चर अचर को हम उसी एक महाप्राण से सप्राण पाते हैं जिसने हमारा हृदय भी स्पंदित कर रखा है। हमारी सत्ता का विराट सत्ता में लय हो जाता है। जो आत्मा नहीं मानते, परमात्मा नहीं मानते वे भी तो किसी एक शक्ति की सत्ता स्वीकार करते हैं जिसने इस सृष्टि की उत्पत्ति और विकास को संभव बनाया। जिससे यह सृष्टि गतिमान है। यही वह शक्ति है जिसके द्वारा सृष्टि का पालन और संहार होता है इसी शक्ति से सूर्य भी भास्वर है। यही शक्ति अग्नि में दाह का रूप और पवमान में गति का रूप धर कर स्थित है। इसके बिना शिव भी शव है। समस्त ब्रह्माण्ड के चर अचर में यही व्याप्त है और इसी की कल्पना ईश्वर, विश्वात्मा आदि के रूपों में हुई है। यही एक सत्ता सर्वभूतों में स्थित है जिसकी सच्ची अनुभूति काव्य ही कराता है। हमारी संकुचित मनोवृत्तियों का परिष्कार कर वह उनका प्रसार करता है। इतना ही नहीं हमारी कुंठित या सुप्त मनोभावनाओं को जगा कर वह उन्हें उदात्त बनाता है।

इस प्रकार की संवेदनात्मक अनुभूति उत्पन्न करने के कारण काव्य परोक्षरूप से लोककल्याण में योग देता है। समाज के व्यक्तियों का पारस्परिक सौमनस्य काव्य की संवेदनशीलता को और भी दृढ़ बनाता है। सत्कर्म की प्रेरणा भी इससे मिलती है पर उपदेश और नीतिनिर्धारण के द्वारा नहीं वरन् अनुभूति के माध्यम से। तात्पर्य यह कि कर्म की प्रेरणा काव्य दे सकता है, पर शुद्ध काव्य का निर्माण कर्म की प्रेरणा के लक्ष्य से सहेतुक नहीं होता। सभी उच्चकोटि के

काव्य उपचारों से अवतरित होते हैं और उनका प्रभाव पाठक के हृदय पर पड़ता है। इस प्रकार उन उपचारों के अनुसार उसके मन में प्रेरणा उत्पन्न हो सकती है। पर काव्य का मूल लक्ष्य यह नहीं है कि वह खेत काटने के लिए किसानों को तत्पर करे। हल चलाता हुआ किसान यदि 'बहुत कृपाल सुन भाइ साधो' या 'तुलसी दास भजो भगवाना' गा उठता है तो इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि काव्य हल चलाने के श्रम को हलका बनाने के लिए ही निर्मित होता है या होना चाहिए। काव्य की उपर्युक्त व्यावहारिक निष्पत्तियों को भी लक्ष्य कर संस्कृत के पुराने आचार्यों ने उसका साध्य चतुर्वर्ग धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष कहा है, पर व्यावहारिक दृष्टि से इसमें भी उन्होंने काव्य का लक्ष्य केवल 'अर्थ' ही पर नहीं रख दिया। 'अर्थ' से भी उसका संबंध हो सकता है पर काव्य का मूल लक्ष्य न तो ये व्यावहारिक आवश्यकताएँ हैं और न इन्हें दृष्टि में रखकर उच्चकोटि के काव्य की रचना होती ही है।

युग की विभिन्न परिस्थितियों और प्रवृत्तियों का प्रभाव कवि पर पड़ता है, उसकी भावभूमि भी उन्हीं से प्रभावित ही होती है, अतएव उसकी रचना पर काल विशेष की बाह्य परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता ही है। काव्य विशेष के रचनाकाल में कौन कौन सी भावनाएँ और विचार समाज में जोर पकड़ रहे थे, अपने युग की प्रवृत्तियों से कवि किस प्रकार प्रभावित हुए और कहाँ तक उनके अनुसार चले और कहाँ तक उन परिस्थितियों को परिवर्तित करने में सफल हुए—इन सभी का अन्वेषण काव्य में किया जा सकता है और निश्चय ही यह उसकी एक उपयोगिता भी है, पर इनका प्रतिबिंब मात्र दिखाने के लिए न काव्य की रचना होती है और न ऐसा आग्रह करने वाला कोई काव्य-विवेचक सिद्धांत ही बनाया जा सकता है।

अरस्तू ने काव्य के दो प्रयोजनों का उल्लेख किया है—एक

वह जो जीवन को संभव बनाती है और दूसरी वह जो जीवन को श्रेष्ठतर बनाती है। काव्य इस दूसरी शक्ति से प्रादुर्भूत और जीवन के उन्नयन में योग देने वाली वस्तु है। प्रश्न हो सकता है कि इसमें पहली आवश्यकता तो जीवन की स्थिति बनाए रखने की है। पर विचार करने पर जीवन को श्रेष्ठतर बनाने वाली शक्ति के मूल में ही जीवन की संभावना छिपी मिलती है। जीवन धारण करने के साथ ही साथ मनुष्य की अंतर्वृत्तियों का भी स्फुरण होता है, पर उन्हें परिष्कृत बनाकर व्यवहृत करने में ही जीवन की सफलता है, जीवन की सार्थकता है। काव्य जीवन को श्रेष्ठतर बनाने वाली शक्तियों के विकास में ही सहायक होता है। हमारी सभी शारीरिक क्रियाएँ हमारे जीवन को संभव बनाती हैं पर उसे श्रेष्ठतर बनाने का काम तो मस्तिष्क और हृदय के योग से ही संभव है। उस हृदय के मूल आधार पर खड़ा होकर काव्य मानव जीवन की ऐसी श्रेष्ठ शक्तियों के मूर्तरूप का प्रत्यक्षीकरण और अनुभव कराता है जो किसी दूसरे साधन से संभव नहीं। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदास ने उसे सबका हित करने वाली सुरसरि के समान बताया है—

कीरति भनिति भूति भलि सोई,
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।

मानव जीवन को श्रेष्ठतर बनाने वाली शक्तियों की वृद्धि में सहायता देकर कविता इस प्रकार सभी कालों में सबका हित भी करती है। सामयिक जीवन की स्थिति पर भी उच्चकोटि की काव्य रचना हो सकती है जिसका मूल्य चिरंतन हो। यह तब होगा जब लोक की कल्याणकारी उन शक्तियों को अनुभूति की तीव्रता के साथ कला की मर्यादा में व्यक्त किया जाय जो मानव जीवन के विकास में योग देती हैं। कवि को उस घटना विशेष में निहित उस भाव की अनुभूति प्राप्त करनी होगी जिसने मानव जीवन के उन्नयन में योग दिया है।

काव्य में उन उच्च भावों की व्यंजना भी होती है जो समाज को उन्नतिशील बनाने में सहायक होते हैं। अर्थात् विशिष्ट भावों की व्यंजना करने का साधन भी काव्य है। तो क्या काव्य के द्वारा विशेष साम्प्रदायिक मतों के आचार विचार का प्रचार भी करना ठीक है। इस प्रश्न पर विचार करने के पहले कविता के स्वरूप और उसके उद्देश्य का एक बार पुनः स्मरण कर लेना ठीक होगा। काव्य ऐसी भावात्मक निर्मिति है जिसमें मानव अनुभूतियों के सहारे ऐसे अद्भुत सौंदर्य का उद्घाटन होता है जिसका आनंद देश और काल की सीमाओं को पार कर भी प्राप्त किया जा सकता है। इसके द्वारा हमारे मनोभाव उच्च और उदात्त बनते हैं तथा हमारे हृदय का विस्तार होता है। काव्य के द्वारा भाव परिष्कृत होते हैं अर्थात् हमारी व्यक्तिगत, स्वार्थपरक और संकुचित मनोवृत्तियों का संस्कार होता है। पहले से जिन वस्तुओं और सुख साधनों को हम व्यक्तिगत हानिलाभ की भावना से देखते आ रहे थे, उन्हें लोक की दृष्टि से देखने लगते हैं। जिनसे हमारा कोई व्यक्तिगत संबंध नहीं उनके हानिलाभ, सुख दुःख और हर्ष विषाद में हमारा हृदय भी सम्मिलित होकर तद्रूप सुख दुःख की अनुभूति प्राप्त करता है। इस प्रकार काव्य प्रचार से भी अधिक अपने उद्देश्य की पूर्ति करता है फिर भी वह प्रचार नहीं करता।

काव्य के उद्देश्य और प्रचार के संबंध में ही अंतर है। काव्य लोकमंगल की भावनाओं का अनुभव कराता है और 'प्रचार' अपने मत विशेष का विज्ञापन कर अपनी ओर आकृष्ट करने की चेष्टा करता है। काव्य जिन भावनाओं का अनुभव कराता है वे सार्वकालिक एवं लोकमंगल के लिए आदर्श हैं और 'प्रचार' सामयिक और संकुचित मनोवृत्तिमूलक। काव्य को केवल प्रचार का साधन नहीं समझा जा सकता। तुलसीदासजी ने जिस भक्तिभावना की अभिव्यक्ति अपने महाकाव्य में की है वह इसलिए केवल प्रचार नहीं है कि उसमें

मनुष्यता का भी सन्देश निहित रहता है और उसमें भी महत्त्वपूर्ण दूसरी बात यह है कि अपनी इस भावना को सूक्ष्मता से व्यक्त करते हुए उसने पूरा पूरा अनुसरण किया है और उस भाव को उस उच्च भूमि पर जाकर प्रकाशित किया है जहाँ उसकी (भक्ति भावना की) उच्चता और महत्ता को ग्रहण कर सकी है जिसका प्रत्याशीकरण और अनुभव प्रत्येक सहृदय पाठक करता है। तुलसीदास की वे पंक्तियाँ जिनमें भाषा के रूप में उपदेशों का पद्यबद्ध किया गया है, सभी के द्वारा नहीं समझी जाती। इसके अतिरिक्त प्रबन्ध के बीच बीच में ऐसी पंक्तियों का पाया जाना बुरा नहीं लगता पर यदि ऐसी प्रकार की पंक्तियाँ स्वतन्त्र रूप से सामने आएँ तो उनकी गणना उसी कोटि में होगी जिस कोटि में वृन्द के दोहे हैं। जैसा कहा जा चुका है सभी महान् कृतियों में कवि का कोई न कोई सन्देश निहित रहता ही है पर व्यक्तिगत राग द्वेष की भावना से परे वह मानव अनुभूतियों के ऐसे रमणीय आवरण में सज्जित रहता है जो पाठक के मन में अपने अनुरूप संवेदनशीलता भी उत्पन्न करने की पूरी क्षमता रखता है। इसलिए राजनीति के क्षणभंगुर वाद विवादों के प्रचार का साधन काव्य नहीं बन सकता। और यदि ऐसा उपक्रम किया भी जाता है तो इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप वह रचना काव्य न होकर पद्यमात्र रह जाती है, जो काव्य का कंकाल है—रक्त मांस और प्राण से विहीन।

आचार्य मम्मट ने यदि काव्य रचना का प्रयोजन यश अर्थ व्यवहार कुशलता अनिष्ट से रक्षा तथा तत्काल आनन्द की प्राप्ति और उपदेश कहा है तो साथ ही कान्तासम्मिततयोपदेशयुज भी कहा

* काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्य परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

है। 'कान्तासम्मित' प्यारी स्त्री के समान गूढ़ सवन करने से तात्पर्य यह है कि काव्य का सृजन परोक्ष रूप में होता है और उसका प्रभाव बहुत गहरा पड़ता है। अर्थात् काव्य की विशेषता अभिव्यंजना की गरिमा और भावप्रवणता की महिमा है। ऐसी भावप्रवणता जो काव्य में वर्णित भावों की सच्ची और तत्काल अनुभूति भी पाठक के हृदय में सञ्चरित कर सके। और यह भी नहीं है कि इन प्रयोजनों की पूर्ति के हेतु जो भी चाहे काव्य का प्रणयन कर ले। उपर्युक्त प्रयोजनों का वर्णन करने के उपरान्त ही उन्होंने काव्य कला की विशेषताएँ भी बतलाई हैं। उसमें एक तो काव्य रचना की नैसर्गिक शक्ति या प्रतिभा होनी चाहिए दूसरे लोक शास्त्र की व्यापकता और फिर शिक्षा तथा अभ्यास भी होना चाहिए—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

[illegible]

का बिना विचार किए। काव्य के माध्यम से ही हम दूसरे की पीड़ा का अनुभव करते हैं, दूसरे के सुख दुःख की अनुभूति करते हैं और दूसरे के ही आनन्द में हृदय से योग देते हैं। हमारी व्यक्तिगत सत्ता या लोक सत्ता में लय हो जाती है। यह हृदय का साम्यवाद है जहाँ एक दूसरे के सुख दुःख का ज्ञान और सामाजिक कष्ट की चिकित्सा या उपक्रम नहीं वरन् उनका अनुभव किया जाता है। क्लेश की चिकित्सा के वास्तविक उपक्रम कर्मभूमि में ही स्पष्ट हैं। काव्य भाव भूमि पर प्रतिष्ठित है वहाँ लोक सृष्टि के सुख अनुभव ही प्रधान ध्येय माना जाता है।

दूसरे के सुख दुःख का अनुभव हम करते कैसे हैं? एवं आचार्यों ने इस अनुभूति प्रसार करने वाली क्रिया को 'साधारणीकरण' का नाम दिया है। काव्य में जब चित्रित अन्य भाव की व्यंजना लोक स्वीकृत मान्यताओं के अनुकूल होती है तभी साधारणीकरण सम्भव होता है। बिना इसके संप्रेषण का उद्देश्य ही पूर्ण नहीं होता। यदि काव्य के चित्र ऐसे असामान्य हों जिनकी कल्पना पाठक नहीं कर सकता अथवा उसमें व्यंजित भाव हृदय में उठने वाले सामान्य भावों के मेल में न हों तो उनका प्रत्यक्षीकरण और अनुभव वह नहीं कर सकता। ऐसा काव्य लोक का नहीं, तब उसका नहीं वह या तो आगे चलकर दुरूह आध्यात्मिक अनुभवों का संकल या व्यक्तिवादी वैयक्तिकता के नीरस संदेश के रूप में परिणत हो जाता है जिसका आस्वाद उसके कर्ता या उसके मतानुयायी एक परिमित समुदाय के व्यक्ति ही कर सकते हैं। इसलिए काव्य की प्रेषणीयता की सम्भावना तभी होती है जब उसके भाव लोक-सामान्य अनुभूतियों के मेल में हों। काव्य का कर्ता व्यक्ति चाहे जिस समुदाय सामाजिक स्थिति और विचारों का हो पर उसकी रचना में व्यक्ति मनोभाव मूलतः सामान्य होते हैं सभी सहृदयों के अनुभव करने

योग्य होते हैं उनका रसपान कर लेने में समर्थ होते हैं और सभी को आनंद देते हैं। इस दृष्टि से, यह कहना कि कवि अपने समुदाय विशेष की मनोवृत्ति से परिचालित होकर अपने उन मनोभावों की व्यंजना काव्य में करता है जो उसके वर्ग के अनुकूल होते हैं, कोई महत्त्व नहीं रखता। हम बराबर देखते आ रहे हैं कि काव्य का कर्ता चाहे जिस श्रेणी और स्थिति का व्यक्ति हो पर उसकी रचनाओं का आनंद सभी समुदाय और श्रेणी के लोग लेते हैं। अब तक काव्य उच्च वर्ग के लोगों के साथ ही निर्मित होता रहा है अतएव उसमें उसी वर्ग का स्वार्थ निहित है, वह एक घेरे में बँधकर कर्मभूमि से विलग होकर विलास और आनंद का साधनमात्र हो गया है—ऐसा कहते भी कुछ लोग मिल जाते हैं। यह ठीक है कि 'रस' का हमारे यहाँ दुरुपयोग भी हुआ है, कुछ काल तक काव्य राजदरबारों में संकुचित होकर आनंद और विलास की सामग्री भी बन गया था, पर अब तक के संपूर्ण काव्य साहित्य में श्रेणी विशेष की संकुचित मनोवृत्ति और अन्य वर्गों की उपेक्षा बतलाना किसी पर अज्ञान का परिचायक है।

हाँ यह अवश्य है कि जिस समाज में मनुष्य रहता है उसका प्रभाव उसपर पड़ता है। उसके राजनीतिक विचार और संस्कारों के अनुकूल ही उसकी कृति पर भी कुछ बाहरी औपचारिक स्थूल प्रभाव पड़ते हैं पर उसकी कृति में व्यंजित मनोभावों में स्वार्थ की न तो कोई भावना ही रहती है और न उसके स्वरूप में ही किसी इस प्रकार की भावना से निर्दिष्ट कोई तात्त्विक अंतर पड़ता है। मार्क्सवादी आलोचक कॉडवेल जिसे सामूहिक भाव (कलेक्टिव इमोशन) कहता है उसे साधारणीकृत रस युक्त काव्य की सामान्य भावभूमि से भिन्न समझना चाहिए। 'सामूहिक भाव' का तात्पर्य यह है कि कवि (जिस वर्ग का वह अंग होता है) समुदाय

ग्रहण कर लेने की क्षमता रखती है, तब यहाँ वर्ग विशेष की स्वार्थ परक मनोवृत्तियों की चर्चा से क्या लाभ।

जो नए लेखक यह कहते हैं कि कालिदास सामन्तकालीन वैभव के प्रतीक हैं और इसलिए उनकी कविताएँ सामान्य अनुभूतियों के ... में नहीं आतीं वे भ्रम में पड़े हैं। इतना कहा जा सकता है कि ... समाज और उसकी भावनाओं का पूरा प्रतिबिंब उनकी रचना में है। आज न वैसी सुख-समृद्धि का काल है और न वैसी ...वस्थाएँ। हमारा वर्तमान समाज ... में ग्रस्त है। ऐसी ...था में केवल शृंगार और आह्लाद की उन भावनाओं से ही प्रेरित होकर काव्य-रचनाएँ करना न तो लोक के हित में ही ठीक है और ... वर्तमानकालीन लोकहृदय के सामान्य भावों के साथ वे पूरा मेल ... खा सकती हैं। पर कालिदास ने जो कुछ किया उसके लिए उन्हें ... नहीं दिया जा सकता और न तो उपर्युक्त धारणाओं से उनका ... ही कम होता है। 'शकुन्तला' की रचना का काल तो विदेशियों के आक्रमण का काल है। पर इस अमर कृति की रचना करके क्या महाकवि ने कोई अनुचित कार्य किया? बात यह है कि कोई विशिष्ट कवि जहाँ अपने युग का होता है वहाँ युग युग का भी होता है। उसकी अंतर्दृष्टि जहाँ वर्तमान को दृश्य में रखती है वहाँ ... समय की दूरी पार करके अतीत तक भी पहुँचती है और ... के उस लोक में भी उसका प्रवेश होता है। यही कारण है कि किसी विशिष्ट युग में लिखी गई साहित्य रचना मानव मन को न जाने कितने दिनों तक प्रभावित करती रहती है।